आसपास है वह जगह, जहाँ हम गये नहीं

प्रफुल्ल कोलख्यान

"बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड। मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो। क्यों, ठीक है ना?

"हम नहीं लड़ाते, लीजा, ये लोग खुद लड़ते हैं। "तुम इन्हें लड़ने से रोक भी तो सकते हो। आखिर हैं तो ये एक ही जाति के लोग।"

रिचर्ड को अपनी पत्नी का भोलापन प्यारा लगा। उसने झुककर लीजा का गाल चूम लिया। फिर बोला:

-"डार्लिंग, हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।"

- भीष्म साहनी के उपन्यास तमस का एक प्रसंग

'हिंदू मुस्लिम रिश्ते : नया शोध, नए निष्कर्ष' आशुतोष वार्ष्णेय के अंग्रेजी में किये गये शोध कार्य का अरविंद मोहन के द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद है। आशुतोष वार्ष्णेय

मिशिगन विश्वविद्यालय में सेंटर फार साउथ स्टीज के निदेशक और राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर हैं। उत्तर प्रदेश में जनमे आशुतोष बीस साल से अमरीका में रह रहे हैं। मातृभाषा होने एवं तमाम सदाशयता के बावजूद हिंदी उनके व्यवहार की सीमा रेखा से बाहर होती गई है। इसकी टीस भी उनके मन में है। बहरहाल यह किताब अगर सिर्फ अंग्रेजी पाठकों तक सीमित रहती तो इसके अकादमिक महत्त्व में यद्यपि कोई कमी नहीं होती लेकिन जैसा कि वे खुद भी मानते हैं, निश्चित रूप से इसका सामाजिक प्रभाव उतना नहीं बनता। कहना न होगा कि भारत में हिंदू और मुसलमान के रिश्तों में अंग्रेजी राज के समय जो तनाव और दरार उत्पन्न हुआ उसमें समय के साथ नई जटिलताएँ भी आई हैं। याद रखना चाहिए कि यह बंग-भंग का शताब्दी वर्ष भी है। हिंदू-मुस्लिम रिश्तों की जटिलताओं का एक सिरा बंग-भंग से भी जुड़ता है और उसके बयालीस साल बाद हुए देश विभाजन से भी जुड़ता है। यही वह जटिलता है जिसके कारण भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद का आधुनिकता की अनिवार्य संवृत्तियों के रूप में उभार हुआ। इतिहास बताता है कि, 'गत शताब्दियों में निश्चय ही हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं, वैसे ही जैसे कि शिया और सुन्नियों के झगड़ों अथवा जाति संघर्षों के। किंतु 1880 के दशक से पूर्व सांप्रदायिक दंगे कदाचित ही हुए हों (सुमित सरकार : आधुनिक भारत का इतिहास : सांप्रदायिक चेतना)।' लेकिन हुआ यही कि 'मनुखों का देश, धर्मों के देश बन गये ... रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बंदों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर दिया (यशपाल : झूठा सच : भाग- 1-वतन और देश- का अंतिम वाक्य)।'

कहना न होगा कि इतने संवेदनशील विषय पर किये शोध के निष्कर्षों को हिंदी पाठकों को उपलब्ध करवाना निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है। आशुतोष वार्ष्णेय की दृष्टि में यह बात साफ है कि 'गरीबी और सांप्रदायिकता, भारत की प्रगति को अवरुद्ध और विलंबित कर सकती है (आउटलुक 17 अक्तूबर 2005-हिंदी)।' हिंदी समाज के लिए देखना यह भी दिलचस्प और जरूरी होगा कि गरीबी और सांप्रदायिकता का आपस में कैसा संबंध है। यह सवाल तब और जरूरी बन जाता है जब हम यह देखते हैं कि हिंदी प्रदेश गरीबी और सांप्रदायिकता दोनों की मार से सबसे अधिक बेहाल हैं।

चार भाग में विभाजित इस पुस्तक के पहले भाग में तर्क और सिद्धांत के अंतर्गत विषय प्रवेश, और नागरिक समाज ही क्यों; दूसरे भाग में राष्ट्रीय स्तर के अंतर्गत राष्ट्रीय प्रभाव बनाने की होड़, हिंदू-मुस्लिम दंगे, 1950-1995: राष्ट्रीय तस्वीर; तीसरे भाग में अलग शहर अलग चरित्र के अंतर्गत अलीगढ़ और कालीकट: नागरिक जीवन और इसके राजनीतिक आधार, दुश्चक्र और सद्भाव चक्र, नवाबी कायदों से नागरिक समाज तक, सामाजिक सेतु निर्माताओं की भूमिका में हिंदू राष्ट्रवादी, गांधी और नागरिक समाज, नागरिक व्यवस्था में गिरावट और सांप्रदायिक हिंसा, अंत:संबंध कारणों और परिणामों का, तथा चौथे भाग में निष्कर्ष के अंतर्गत जातीय टकराव, राज्य और नागरिक समाज का विवेचन है। इनके अतिरक्त संदर्भ और टिप्पणियों के अलावे तीन परिशिष्टों में भारत में हिंदू-मुस्लिम संबंध से संबंधित परियोजना के लिए प्रश्नावली, दंगों संबंधी डाटाबेस तैयार करने के लिए डाटा इंट्री का कायदा तथा समाश्रयण के परिणाम (हिंदू-मुस्लिम दंगे: 1950-95) पर चर्चा शामिल है। इस किताब के आत्मगठन के सारे बिंदुओं पर चर्चा तो यहाँ संभव नहीं है लेकिन इतना संकेत कर देना जरूरी है कि इन पर सतत बहस उपयोगी होगी। यह सच है कि सांप्रदायिकता का संबंध राष्ट्रवाद के मार्फत तो आधुनिकता से रहा ही है, आधुनिकता की परियोजनाओं की विफलताओं से सांप्रदायिकता का सीधा संबंध भी उल्लेखनीय है। ध्यान में रखना ही होगा कि भारत में सांप्रदायिकता को सबसे मजबूत आधार धर्म के परिसर से नहीं बल्कि द्विराष्ट्रीयता और हिंदू मुस्लम के दो कौम के होने की संकल्पना से उद्‌भूत स्थानापन्न-राष्ट्रवाद से प्राप्त हुआ। आज भी इतिहास की यह गुत्थी अनसुलझी है। अनसुलझी इसलिए है कि आधुनिकता की परियोजनाएँ हों, राष्ट्रवाद की परियोजनाएँ हों, आर्थिक-संचलन की परियोजनाएँ या खुद इतिहास पुरुष के भरणपोषण की परियोजनाएँ ही क्यों न हों, ये सारी परियोजनाएँ अंतत: एक ही सत्ता-केंद्र से संचालित होती और प्राण-तत्त्व पाती रही हैं। 'सत्ता' की नाभिकीयता को समझे बिना ये मामले साफ नहीं होते हैं। मुश्किल यह कि इस समझ के व्यूह में प्रवेश का साहस जुटाना तो अपनी जगह उसके बाहर आने की बौद्धिक चुनौती भी कम बड़ी नहीं होती है। सामाजिक अध्ययन की अधिकतम संभावनाओं के बौद्धिक उपयोग में इस परिस्थिति को ध्यान में रखने का कौशल तो होना ही चाहिए।

इस संदर्भ में आशुतोष वार्ष्णेय के मंतव्यों को उन्हींके शब्दों में समझना चाहिए, '1960 के दशक तक आघुनिकीकरण को ही साम्प्रदायिकता की दवा माना जाता था। लेकिन पिछले एक दशक में आधुनिकता विरोधी तर्कों ने जबरदस्त लोकप्रियता हासिल कर ली है। भारत में

दोनों ही तर्कों की जबरदस्त वकालत करने वाले रहे हैं। नेहरू और भारतीय वामपंथ से जुड़ी और पारम्परिक किस्म की मान्यता यह रही है कि समाज जितना आधुनिक होता जाएगा साम्प्रदायिकता की समस्या उतनी ही गति से हाशिए पर चली जाएगी। पर धर्मनिरपेक्षता-विरोधियों या आधुनिकता-विरोधियों के लिए आधुनिकता समाधान नहीं, अपने आप में समस्या है।' (पृष्ठ 122) आधुनिकता को समस्या माननेवाले लोग कौन हैं? धर्मनिरपेक्षता-विरोधी और उत्तर-आधुनिक महाप्रभु! इतिहास बताता है कि पूँजीवाद के उपकरण के रूप में आधुनिकता ने चर्च के वर्चस्व और नागरिक जीवन में दखल को चुनौती दी थी। आधुनिकता ने चर्च के शोषण का विरोध किया। शोषण का विरोध आधुनिकता के चरित्र का अनिवार्य संघटक तत्त्व बन गया। चर्च का वर्चस्व राष्ट्र के वर्चस्व से विस्थापित हो गया। आधुनिकता ने सांस्कृतिक कुशलता से स्वतंत्रता-समता-बंधुत्व की चेतना को सामाजिक आकांक्षा बना दिया। इस सामजिक आकांक्षा के राजनीतिक प्रसार से पूँजीवाद को होनेवाली असुविधा एक राजनीतिक चुनौती के रूप में प्रकट हुई। इतिहास को पीछे लौटाना असंभव होता है। पूँजीवाद इस असंभव कार्य में लगा रहा। अब तो इतिहास को मरा हुआ घोषित कर रहा है। इस तरह की घोषणाएँ या तो उसका आत्म-छल है या फिर उसके विश्व-प्रपंच का ही एक मायावी विस्तार है। इतिहास की इस विडंबना को समझना होगा कि जिन 'आधुनिकतावादियों' ने नागरिक जीवन में चर्च (धर्म) के दखल का सफल विरोध अपने राष्ट्रवादी सरोकारों के बल पर किया उन्हीं 'आधुनिकतावादियों' ने अपने औपनिवेशिक हितों की दुष्ट माँग के कारण धर्म को राष्ट्र से जोड़ने में दिलचस्पी दिखलाई और धर्म के आधार पर द्विराष्ट्रीयता के सिद्धांत को हवा दी। आज पूरी दुनिया में नव-उपनिवेशन की पक्रिया में उत्तर-पूँजीवाद लगा हुआ है। स्वाभाविक ही है कि 'आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षता' के सिद्धांत उपकरण बने रहकर नहीं, बल्कि अलंकरण बनकर ही लाभप्रद हैं।

आधुनिकता

विरोधियों या धर्मनिरपेक्षता विरोधियों के तर्कों को संक्षेप में याद करते हुए आशुतोष वार्ष्णेय कहते हैं कि 'इसके अनुसार अपने विभिन्न प्रतिफलों– तर्कबुद्धिवाद, शहरीकरण, विज्ञान और धर्मनिरपेक्षता– में आधुनिकता ने धार्मिक सामुदायिक हिंसा में बढ़ोतरी की है। सबसे पहले राष्ट्र-राज्य के वेश में आधुनिकता ने पारंपरिक संस्कृतियों की विविधता को नष्ट किया। अनेक लोगों ने इस एकरूपता का प्रतिरोध किया और अपनी भाषा, धर्म या संस्कृति जैसी खास जड़ों को

नहीं छोड़ा। भारत को एकरूपता देने की कोशिशें हिंसा पैदा करेंगी ही। दूसरे, आधुनिकता भारत जैसे धार्मिक मूल्यों से संचालित होनेवाले समाज में आस्थावान लोगों के मन में प्रतिक्रिया करेगी ही, उनके लिए आधुनिक युग में भी बड़े बांध मंदिरों का स्थान नहीं ले सकते। आखिरी और सबसे महत्वपूर्ण चीज है, आधुनिकता से राजनेताओं का अनैतिक होना। धर्म पहले मानवीय व्यवहार पर आंतरिक अंकुश का काम करता था, आधुनिक व्यक्ति किसी भी चीज को पवित्र नहीं मानता, सत्ता और मुनाफे के लिए जरूरत पड़ने पर राजनेता सांप्रदायिक हिंसा को भी उपकरण बनाने से नहीं चूकेंगे।' (पृष्ठ 124) ध्यान में रखना चाहिए कि एकरूपता का खतरा आधुनिकता से नहीं भूमंडलीकरण और उत्तर-आधुनिकता के दबाव से पैदा हुआ है। यह सच है कि 'बड़े बांध मंदिरों का स्थान नहीं ले सकते' लेकिन क्या यह भी सच नहीं है कि बड़े मंदिर भी बाँध (वैज्ञानिक विकास !) का स्थान नहीं ले सकते हैं! किसी ऐतिहासिक परिस्थिति में बाँध और मंदिर में टकराव हो ही जाये तो वैसे में बुद्धि-विवेक को किसका साथ देना चाहिए? क्या बुद्धि-विवेक को आधुनिकता से अनिवार्यत: सीमित कर उससे पल्ला झाड़ लेना ही श्रेयस्कर होगा! पता नहीं किस ऐतिहासिक दौर में धर्म 'मानवीय व्यवहार पर आंतरिक अंकुश का काम करता था'? यह सच है कि सत्ता और मुनाफा के लिए राजनेता सांप्रदायिक हिंसा को उपकरण बनाने से नहीं चूकते हैं लेकिन सत्ता और मुनाफा तो आधुनिकता का नहीं पूँजीवाद का अदम्य मनोरथ है। पूँजीवाद के राष्ट्रवादी और उत्तर-पूँजीवाद के बहुराष्ट्रवादी 'पवित्र-पाप' को आधुनिकता के मत्थे मढ़ना आधुनिकताविरोधियों और धर्मनिरपेक्षताविरोधियों की सुचिंतित परियोजनाएँ हैं तो क्या आश्चर्य! आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षताविरोधियों को 'मानवीय व्यवहार' पर जिस 'आंतरिक अनुशासन' की तलाश है उसके चरित्र के बारे में किसी गफलत में पड़ना मानव-सभ्यता को अबांछित टकराव के मुहाने पर ले जा सकता है। आधुनिकता और अनैतिकता के बीच कोई अनिवार्य कार्य-कारणात्मक संबंध होता तो अनैतिकता की सूची में उन देशों और समाजों का नाम ऊपर होता जहाँ आधुनिकता अधिक सक्रिय रही है, लेकिन यह सूची उलटी है।

आशुतोष वार्ष्णेय जातीय पहचान और जातीय हिंसा के संबंधों को परखने के क्रम में कहते हैं कि 'जातीय पहचान खुद से जातीय हिंसा नहीं लाती, विभिन्न जातीय पहचान

के लोग शांतिपूर्ण ढंग से रह सकते हैं। कई बार यह तर्क किया गया है कि आर्थिक पहचान जातीय पहचान की जगह ले ले तो टकराव कम हिंसक और 'सभ्य' किस्म का होगा। 1950 और 1960 के दशक में यह बात बड़े पैमाने पर मानी जाती थी कि 'आधुनिकता' जातीय और दूसरी पहचानों को, जो बीते समय की चीजें हैं, मिटाते हुए वर्ग और पेशों वाली पहचान की तरफ ही ले जायेगी।' (पृष्ठ 35) यह किताब भारत के विशेष संदर्भ में संयोजित है। जहाँ तक भारत का सावल है वैश्विक पैमाने पर देखें तो देश-विभाजन जैसी बड़ी दुघर्टना और उसके बाद से निरंतर जारी छोटे-मोटे उपद्रवों के बावजूद भारत ने आधिकारिक रूप से आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षता के जिस संस्करण को अपनाया है उसमें यह विश्वास आज भी सच और कारगर है कि जातीय पहचान और जातीय हिंसा में अनिवार्य कार्यकारणात्मक संबंध नहीं है। इस मान्यता की पुष्टि आशुतोष वार्ष्णेय के इस शोध से भी होती है। भारत बहुजातीय देश है। इसकी बहुलात्मकता इसके संविधान की आधुनिक संरचना से सुरक्षित है। कुछ ताकतें जरूर इसकी बहुलात्मकता को उलझाना चाहती हैं। अपने बहुलात्मक स्वभाव में भारत के पास अपने उलझावों को सुलझाने का अंतर-सांस्कृतिक एवं सामाजिक अनुभव और अंतर्निहित स्नायुतंत्र है। इसीका नतीजा है कि इसका नागरिक राष्ट्र के साथ अपने पेशेवाली पहचान के साथ पेश आता है और समाज में अपनी जातीय पहचान के साथ साँस लेता है। पेशेवाली पहचान और जातीय पहचान एक दूसरे से अलगाव में नहीं बल्कि एक दूसरे से समन्वित होकर सक्रिय रहते हैं। इस समन्वय में आधुनिकता की भूमिका सराहनीय है, इसे नजरअंदाज करना उचित नहीं है। हिंदी भाषी समाज के संदर्भ में एक खास तरह की कठिनाई जरूर है। इसके कारणों को जातीय पहचान के कारगर ढंग से उभर नहीं पाने और पेशे की पहचान के संस्थाबद्ध रूप नहीं ले पाने में ढूढा जा सकता है। इसके कारण भी हिंदी समाज में आधुनिक चेतना के समुचित मात्रा में विनियोग नहीं होने में ही हैं। समुचित मात्रा में आधुनिकता के विनियोग के अभाव ने हिंदी भाषी समाजों में आधुनिकता की गुणात्मकता को भी अपेक्षित मात्रा मे प्रभावशील नहीं बनने दिया। यहाँ जातीय पहचान के बनिस्वत जाति-पहचान अधिक कारगर बना हुआ है। जाति की पहचान पुराने पेशे से जुड़ी है। आधुनिकता के अभाव में नये पेशे से जुड़ी पहचान का पुराने पेशे से जुड़ी पहचान में अपेक्षित समन्वय नहीं होने के कारण टकराव अधिक है। वहाँ हिंदू मुस्लिम रिश्ते को समझने से अधिक चुनौतीपूर्ण जातियों के बीच के रिश्ते को समझना है। जातीय पहचान खुद से जातीय हिंसा नहीं लाती है, फिर जातीय हिंसा लानेवाली ताकतों पर विचार किया जाना जरूरी हो जाता है।

आशुतोष वार्ष्णेय साक्षरता और सांप्रदायिकता के अंतर्संबंधों की पड़ताल करते हुए कहते हैं कि 'वैसे तो अब आधुनिकतावाले सिद्धांत पर कम ही लोगों का भरोसा रह गया है लेकिन हाल में एक नए किस्म का तर्क सामने आया है। अब जो तर्क दिया जा रहा है उसमें आर्थिक समृद्धि की जगह साक्षरता या मानक विकास पर जोर दिया जा रहा है। जैसे अमर्त्य सेन ने सबसे अधिक साक्षरतावाले प्रदेश केरल में दंगों की सबसे कम दर और सबसे कम साक्षरता वाले उत्तर भारत में दंगों की दर ऊंची होने की बात रेखांकित की है। उनका तर्क है कि निरक्षरता और सांप्रदायिक हिंसा एक-दूसरे से जुड़ी चीजें हैं और साक्षरता आने से सांप्रदायिक हिंसा में कमी होगी या धीरे-धीरे वह समाप्त हो जाएगी।' (पृष्ठ 123) इस मान्यता से असहमत होते हुए आशुतोष वार्ष्णेय कहते हैं कि 'यह तर्क काफी हद तक केरल-उत्तर प्रदेश या केरल-बिहार की तुलना पर आधारित है। हम जैसे ही अपनी सांख्यिकी के अधिक व्यापक आधार पर गौर करते हैं यह तर्क आगे नहीं चल पाता। केरल अगर कम सांप्रदायिक हिंसा के मामले में उल्लेखनीय प्रदेश है तो राजस्थान इस मामले में उसके बराबर ही है। और सभी जानते हैं कि साक्षरता के मामले में केरल सबसे ऊपर है। 1991 की जनगणना में ही वहां 90.59 फीसदी साक्षरता दर थी जबकि पूरे मुल्क का औसत 52.21 फीसदी था। दूसरी ओर सांप्रदायिक रूप से शांत राजस्थान साक्षरता के मामले में एकदम पिछड़ा है। वहां साक्षरता की दर 38.81 फीसदी ही थी। इतना ही नहीं, महाराष्ट्र और गुजरात जैसे राज्यों में तो साक्षरता की दर काफी ऊंची है और साथ ही सांप्रदायिक हिंसा भी खूब रही है। 1991 में इन दोनों राज्यों में साक्षरता की दर 65.05 और 60.91 फीसदी थी जो राष्ट्रीय औसत से काफी ऊपर है।' (पृष्ठ 123) वे आगे यह भी कहते हैं कि 'अगर हम साक्षरता और दंगों के रिश्ते को शहर स्तर पर समझने की कोशिश करते हैं तब भी इसी नतीजे पर पहुँचते हैं।' स्पष्ट कारणों से ही साक्षरता के आँकड़े अक्षर ज्ञान पर आधारित होते हैं। इनमें सांस्कृतिक साक्षरता, नागरिक साक्षरता जैसी अन्य संकल्पनाएँ शामिल नहीं होती हैं। साक्षरता के आँकड़ों का आधार बहुत ही सीमित होता है। अक्षर-ज्ञान को सचेतनता और अक्षर-ज्ञान के अभाव को जड़ता का अकाट्य प्रमाण मानकर चलना अनर्थकारी निष्कर्ष पर पहुँचा देता है।

विज्ञान ने आधुनिक जीवन को बहुत समृद्ध किया है। लेकिन विज्ञान ने अनजाने मनुष्य के बौद्धिक संकाय को अपनी अध्ययन पद्धति से अनुकूलित भी किया है। समाज-शास्त्र के 'वैज्ञानिक अध्ययन' की दिक्कत यह है कि समुदायों पर विचार करते हुए वह उसे भौतिक तत्त्वों की

तरह का पूर्वानुमेय, समांगी एवं सुपरिभाषेय मानकर आगे बढ़ने लगता है। आँकड़ों की सीमा यहाँ प्रकट होने लगती है। कहना न होगा कि फिर भी ये बहुत उपयोगी हैं। मनुष्य को अभिप्रेरित और संचालित करनेवाले कारक बहुत ही सूक्ष्म एवं अननुमेय होते हैं। समाज-शास्त्रियों का ध्यान इस ओर जाना ही चाहिए कि धर्मनिरपेक्षताविरोधियों के राजनीतिक अनुयायी बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेश जैसे राज्यों में भले हों उनके प्रथम पांक्तेय नेता तो वहाँ से 'बाहर' के ही हैं और वे आधुनिकताविरोधी राजनीतिक औजार ही प्रयोग में लाते हैं।

केरल का उदाहरण देते हुए आशुतोष दर्ज करते हैं कि 'राजनीति में अभी भी समानता और न्याय के दर्शन की प्रमुखता है– मजबूत जातिगत भावनाओं पर आधारित और उसके साथ-साथ मौजूद रहनेवाले दर्शन की। यह कम्युनिस्टों के कामकाज की भारी सफलता का ही प्रमाण है कि जिस समाज की 70 फीसदी हिंदू आबादी को अछूत और इसमें से काफी को भी देख लेने भर से छूत फैलानेवाला माना जाता हो उसमें कुछ दशकों के अंदर ही भेदभाववाले इन पैमानों को सदा के लिए दफना दिया गया। एक सदी पहले केरल अगर सबसे ज्यादा ऊंच-नीच के भेदभाववाला क्षेत्र था जो आज भारत में सबसे ज्यादा समानता का सिद्धांत माननेवाला इलाका बन गया है। छूआछूत और भेदभाववाली बात तो गायब ही हो गई है, स्कूल-कालेजों और मंदिरों में प्रवेश पर कोई पावबंदी नहीं रह गई है। राज्य जल्दी ही शत-प्रतिशत साक्षर होने जा रहा है और पुरानी जमींदारियां तो कब की समाप्त हो चुकी हैं। ये सारे बदलाव लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंदर ही हुए हैं। केरल में भूमि सुधार कानून 1969 में सर्वसम्मति से पास हुआ और इसमें बटाईदार को ही जमीन का मालिक बना दिया गया। तब विपक्षी दलों में से, जिनमें कई जमींदारों और पैसेवालों का प्रतिनिधित्व करते थे, किसी ने भी इसका विरोध नहीं किया। केरल के लोगों के सोच और आदतों को कम्युनिस्टों ने कितना और कैसा बदल दिया है, यह चीज उसका अद्‌भुत उदाहरण थी।' (पृष्ठ 180) केरल के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद के मनोवृत्त के दखल से बाहर और मुक्त रहकर आधुनिकता की परियोजनाएँ किस प्रकार जातीय एवं सांप्रदायिक तनावों एवं दुर्व्यवहरों को न्यूनतम स्तर पर लाने में कामयाब होती हैं। वे आगे कहते हैं कि केरल में 'कम्युनिस्ट बिना प्रभुत्वशाली हुए ही प्रभावी रहे हैं – अगर ग्राम्शी के शब्दों में कहें तो उन्होंने राज्य के लिए वैचारिक एजेंडा तय किया है

और अन्य लोग पक्ष या विपक्ष में जाने भर का काम करते रहे हैं। यहां धर्म भी फलता-फूलता रहा है।'

आशुतोष वार्ष्णेय के इस महत्त्वपूर्ण शोध के निष्कर्ष तनावों के समय संस्थाओं की सकारात्मक भूमिकाओं की ओर संकेत करते हैं। गुजरात के संदर्भ में वे टीएलए (श्रमिक संगठन) एवं एमए (मिल मालिकों का संगठन) और हिंदू एवं मुसलमानों की पारस्परिक आर्थिक अंतरनिर्भताओं की बारीकियों को समझते हैं। हिंदू-मुस्लिम रिश्तों का सवाल सिर्फ दंगों के समय ही नहीं उठता है। दंगों के समय तो इनके रिश्तों में आये तनाव का सवाल उठता है। वे 'सेवा' (SEWA - Self Employeed Women Association) की चर्चा करते हुए कहते हैं, - 'गांधीवादी धारा के अनुरूप ही बनी एक अपेक्षाकृत नई यूनियन हाल के वर्षों में बड़ी तेजी और मजबूती से उभरकर सामने आई है। 'सेवा' नामक यह यूनियन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी काफी सराही गई है। स्व-रोजगारवाली महिलाओं को संगठित करना मुख्य काम है। वह अनौपचारिक क्षेत्र को स्वरोजगार के नाम से कहना अधिक पसंद करती है। 'सेवा' का काम उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है लेकिन कामगार वर्ग पर इसका टीएलए जैसा और जितना प्रभाव नहीं है। इसका कारण दोनों के लैंगिक आधार में अंतर होना है।... 1980 के दशक में 'सेवा' की महिलाओं ने शांति के लिए काम भी किया था और कई मुहल्लों में हिंसा नहीं होने दी थी लेकिन जब सांप्रदायिकता का असली कहर टूटा– अक्तूबर 1990 में अयोध्या आंदोलन के दौरान और दिसंबर 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद– तब हिंदू राष्ट्रवादियों ने 'सेवा' की महिलाओं को डराकर चुप रखने में सफलता पा ली। उनसे कहा गया कि अगर उन्होंने सांप्रदायिक सद्भाव के लिए बड़े स्तर पर काम करने की बात सोची तो 'सेवा' के दफ्तर और कार्यकर्त्ता सुरक्षित नहीं रह सकेंगे। 'सेवा' को भी साफ लगा कि अगर वह हिंदू राष्ट्रवादी उग्रपंथियों से लड़ना चाहती है तो यूनियन को भी उनके गुस्से का निशाना बनना पड़ सकता है। यह सोचना या हिसाब लगाना भीरुता की निशानी न होकर दुनियादारी का प्रमाण था। सेवा के सभी सदस्य गरीब हैं।' (पृष्ठ 267) यह मान लेना एक प्रकार का सरलीकरण ही है कि 'दुनियादारी की समझ' और अपनी 'लैंगिक कमजोरियों' के कारण ही 'सेवा' ने तनावों को शिथिल करने के दायित्व से अपना पाँव खींच लिया। गुजरात में हिंदू संप्रदायवादियों का असली तांडव तो बाद में हुआ। इसकी जाँच प्रक्रिया जारी है, इसकी रिपोर्ट बाद में आयेगी। लेकिन मोटे तौर पर इसमें सरकारी

मशीनरियों के शामिल होने की धारणा भी निराधार नहीं है। हिंदू राष्ट्रवादियों की महिला शाखा ने इस पूरी प्रक्रिया में जो भूमिका अदा की उसके संकेत भी अपठ्य नहीं हैं। असल में जैसा कि आशुतोष वार्ष्णेय संकेत भी करते हैं कि आधुनिक संस्थाओं की आंतरिक संरचना में सांप्रदायिकता के जहर घोलने में कामयाब हो जाने से संस्थाओं की योजक शक्ति में कमी आ जाती है। आधुनिक संस्थाओं की संरचना में जहर घोलने का काम सांप्रदायिक शक्तियाँ करती हैं और पूँजीवाद के विभिन्न संस्करणों के हित में उत्तर-आधुनिकता दुष्ट सहयोगी की भूमिका अदा करती है।

आशुतोष वार्ष्णेय ठीक रेखांकित करते हैं कि 'अगर मतदाता मनोवृत्तियों ने हिंदू राष्ट्रवाद का समर्थन किया तो नागरिक पद्धतियों ने हिंदू राष्ट्रवादियों के व्यवहार को नरम बना दिया।'(पृष्ठ 217) मतदाता मनोवृत्तियों और नागरिक पद्धतियों के संबंधों की बहु-स्तरीय जटिलताओं को समझना जरूरी है, न सिर्फ हिंदू-मुस्लिम के सामाजिक-आर्थिक रिश्तों के संदर्भ से बल्कि व्यक्ति, समाज और राज्य के सामाजिक-आर्थिक संचलनों के संदर्भ से भी यह जरूरी है। यहाँ इतना संकेत करना प्रासंगिक है कि मतदाता मनोवृत्तियों को निर्धारित करने में समकालीन राजनीति की और नागरिक पद्धतियों के निर्धारण में संस्थाओं की भूमिका प्रमुख होती है। ध्यान में यह बनाये रखना आवश्यक है कि नागरिक जीवन का गहरा संबंध जनतंत्र से होता है। जनतंत्र के संपन्न या विपन्न होने का संबंध राजनीति की गुणवत्ता से होता है। राजनीति की गुणवत्ता के क्षरण से नागरिक जीवन में कठिन समय आता है। कठिन समय में राजनीति संस्थाओं को अपने वर्चस्व में लेने के लिए कपटपूर्ण तरीका अपनाती है और नागरिक पद्धतियाँ मतदाता मनोवृत्तियों की अधीनस्थ हो जाती हैं। आशुतोष वार्ष्णेय हेबरमास की पुस्तक 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ पब्लिक स्फेयर' का हवाला (पृष्ठ 57) देते हैं। इस किताब में हेबरमास ने 'जीवंत दुनिया' और 'व्यवस्था' के बीच अंतर बताते हुए निष्कर्ष निकाला है कि संगठन और संस्थाओं से बननेवाला संबंध तो आधुनिक नागरिक जीवन का हिस्सा है, दैनंदिन संबंध तो जीवन बनाते हैं, पर संगठित और व्यवस्थित मेल-जोल तो इतिहास बनाते हैं। आशुतोष बताते हैं कि अब हेबरमास भी दैनंदिन और सांगठनिक संबंधों के बीच आत्यंतिक अंदर वाली बात पर जोर नहीं देते हैं। संगठित और संस्थाबद्ध नागरिक ठिकानों के अभाव में नुक्कड़ से चलनेवाली गतिविधियों को भी नागरिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं। 'तरुण बंगाल' के समय से शुरू होकर हाल-फिलहाल तक बंगाल के नागरिक जीवन में अड्डा की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण लगती है।

'हिंदू मुस्लिम रिश्तों' को सामूदायिक संदर्भों में देखना जितना जरूरी है, नागरिक संबंधों के संदर्भों में देखना उससे कम जरूरी नहीं है। यह सच है कि आधुनिकता की परियोजनाओं के अपूर्ण रह जाने के कारण बहुत सारी कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। लेकिन इसका दोष आधुनिकता की परियाजनाओं पर नहीं बल्कि उसके अवरोधकों के हिसाब में जाता है। हमारे समय में उत्तर-पूँजीवाद और उसकी वैचारिक अनुषंगी एवं अभिन्न सहेली उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता की परियाजनाओं की सबसे सशक्त अवरोध हैं। आधुनिकता संशय करती है, संशय की परीक्षा करती है और संशय से मुक्ति के रास्तों का संयोजन करती है। उत्तर-आधुनिकता की दिलचस्पी नागरिक संबंधों सहित संपूर्ण जीवन-प्रसंगों में संशयोजन (संशय + संयोजन) का दर्शन रचने में है। जीवन प्रसंगों का संशयोजन करने में, अर्थात जीवन प्रसंगों के अंतरंग में संशय को लंबे समय तक सक्रिय बनाये रखते हुए जीवन को तदर्थ बनाने में दिलचस्पी रखती है। जीवन की तदर्थता नागरिक संबंधों सहित किसी भी संबंध में स्थिरता नहीं आने देती है।

एक अच्छा शोध ही एहसास कराता है कि सब कुछ तो 'दृश्य' है, फिर पता नहीं क्यों ऐसा लगता है कि जैसे कुछ छूट रहा है! मंगलेश डबराल की कविता की भाषा में इस एहसास का बयान करें तो, 'कहीं आसपास है वह जगह जहाँ हम गये नहीं/ उसकी खुशबू आती रहती है हम तक/ गौर से देखें तो दिखती हैं नदियाँ चौड़ी नीली/ तटों पर उनके झुके हुए बादल/ जिनके चेहरे पानी पर बहते जाते हैं/ और सिहरन से भरे हुए वे अनजाने पुल/ जिन पर तेज हवाओं की आवाजाही है/ जिन्हें पार नहीं किया हमने जो छूट गये हम से/ उनकी रोशनियाँ जैसे स्वप्न में जलती रहती हैं/ एक अकेलापन है जिसकी याद किसी और/ अकेलेपन में आती है/ वह दृश्य बचा रहता है जो चारों तरफ/ अदृश्य हुआ जाता है।' आशुतोष वार्ष्णेय की यह किताब शास्त्रीय ढाँचे में बहुत ही प्रामाणिक ढंग से लिखी गई है। यह हिंदू मुस्लिम रिश्तों को समझने का नजरिया देती ही है। साथ ही यह किताब हमारे समय की नागरिक समझ के नजरिये से भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। हिंदी समाज में इस तरह की किताबों की बहुत जरूरत है। हिंदी समाज पर गंभीरता से विचार करनेवाले इस किताब को उपयोगी पायेंगे। यह किताब समाजशास्त्रीय प्रामाणिकता के साथ लोकचेतना के उन्नयन का अवसर भी बनाती है। हिंदी समाज और साहित्य के रिश्तों पर काम करनेवालों के लिए यह किताब महत्त्वपूर्ण और इसका हिंदी अनुवाद उपयोगी है ही,

अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद बहुत ही उपयोगी हो सकता है। अरविंद मोहन ने बहुत ही सावधानी और श्रम से काम लिया है, जो छोटी-मोटी त्रुटियाँ हैं उनसे पाठभंग का खतरा नहीं के बराबर है।

हिन्दू मुस्लिम रिश्तेः नया शोध, नए निष्कर्ष
आशुतोष वार्ष्णेय
(अनुवादक : अरविन्द मोहन) राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. पहला संस्करण : 2005